विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
भारतीय कृषि व्यवस्था और गुप्तकाल
प्रदीप कुमार

पृष्ठ क्र. 3-4
रामानुजाचार्य की भक्ति धारा और दर्शन
चंद्रकांत रांगणेकर

पृष्ठ क्र. 5-6
भारतीय वेशभूषा की विकास गाथा
गार्गी रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 7
महर्षि अगस्त्य की दक्षिण भारत की यात्रा
सत्यजीत वर्मा

पृष्ठ क्र. 8
भारत के वैष्णव, शैव अन्य धार्मिक मत
मिथिलेश यादव

भारतीय कृषि व्यवस्था और गुप्तकाल

प्रदीप कुमार

गुप्तकाल के बारे में हमें साहित्यिक तथा पुरातात्विक दोनों प्रमाणों से पता चलता है। 319 ई. से 550 ई. तक गुप्तकाल के नाम से जाना जाता है। इसी समय गुप्त शासकों ने राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में अत्यन्त उन्नति की थी। तत्कालीन कृषि व्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। गुप्तकाल में कृषि के क्षेत्र में वृद्धि हुई थी इसका कारण इस काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हुआ विकास था साथ ही कृषि राज्य की आर्थिक व्यवस्था का आधार थी। भूमि का विभाजन उसके उपयोग के अनुसार किया गया था। तत्कालीन साहित्यिक विवरणों से हमें भूमि के प्रकारों के बारे में पता चलता है। अमरकोश में भूमि के बारह प्रकारों का वर्णन है। जैसे– उर्वरा (उपजाऊ भूमि), ऊसर (रहयुक्त नोनी मिट्टी), मरू (रेगिस्तान), अप्रहत (बंजर), शड्वस (घास वाली भूमि), पंकिल (कीचड़ युक्त), जल प्रायमनुपम (नम भूमि), कच्छ (समुद्र तट के किनारे वाली जमीन), शर्करा (पथरीलि भूमि), नदीमात्रिका (नदी द्वारा सिंचित भूमि) और देवमात्रिक (वर्षा से सिंचित भूमि) इत्यादि का वर्णन मिलता है। इस काल में हमें खेती योग्य भूमि, व्यर्थ भूमि, निवास स्थान वाली भूमि, बाग–बगीचे तथा चारागाह आदि की जानकारी मिलती है। मिट्टी के किस्मों के आधार पर वराहमिहिर ने भूमि की चार प्रमुख कोटियाँ बतलाई हैं, सफेद, लाल, पीली और काली। यह विभाजन उन्होंने कृषि की दृष्टि की बजाए निवास के आधार पर किया है। कृषि की दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा प्रशासित भूमि को ही अधिक उपयुक्त माना है। कृषित भूमि दो भागों में विभाजित थी, एक शुष्क भूमि और दूसरी नम भूमि। जनसंख्या वृद्धि आदि कारणों के फलस्वरूप गुप्तकाल में सभी प्रकार की भूमि की माँग बढ़ी होगी। राजा द्वारा भी अकृषित भूमि को कृषिगत बनाने के लिए प्रायः परती भूमि एवं बंजर भूमि को दान कर दिया जाता था। गुप्तकाल में भूमि के सभी प्रकारों (खिल, वास्तु और अप्रहत) को कृषकों तथा समाजों के अन्य वर्गों द्वारा प्रयोग में लाया गया था।

स्मृतिकारों के अनुसार राजा भूमि का मालिक माना गया है। मनु और गौतम जैसे स्मृतिकारों ने राजा को भूमि का अधिपति बताया है। फाह्यान ने राजा को भूमि का स्वामी बतलाया है, किन्तु नियमित रूप से भूमि कर देने वाले कृषक अपनी जमीनों के वास्तविक स्वामी थे। राजा को उनकी भूमि का वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था। भूराजस्व अदा किए बिना खेत छोड़कर चले जाने वाले कृषकों की भूमि को राजा बेच सकता था। मनु ने यह भी कहा है कि भूमि उसी की है, जो भूमि को जंगल से साफ करके सबसे पहले जोतता है। परन्तु बृहस्पति और नारद स्मृतियों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति का जमीन पर मालिकाना अधिकार तभी माना जा सकता है, जिसके पास कानूनी दस्तावेज हो। परिवार का कोई भी सदस्य अन्य सदस्यों की अनुमति प्रदान कर परिवार की सम्मिलित भूमि में से अपने हिस्से की जमीन बेच सकता था। गुप्तकाल में स्मृतिकारों ने सभी प्रकार के लावारिस संपत्तियों को प्राप्त करने का अधिकारी राजा को ही माना है। भूस्वामित्व के सन्दर्भ में भूमि पर स्पष्ट रूप से राजा और व्यक्ति दोनों का अधिकार माना जा सकता है। गुप्तकाल में आर्थिक प्रगति के दौरान ही कृषि संबंधी तकनीक में भी विकास हुआ। इस परिवर्तन के बावजूद प्राचीन पारम्परिक तरीके भी अपनाये जा रहे थे। हल उन दिनों कृषि का महत्वपूर्ण उपकरण था। अमरकोष में हल के अनेक भागों का वर्णन है जैसे हरिश, जुओं, सइल, हरैली और फाल आदि। कालिदास ने अपने समय में बैलों द्वारा खेतों को जोतने का उल्लेख किया है। वराहमिहिर ने भी बैलों की विशिष्टता के बारे में वर्णन किया है कि श्रेष्ठ बैलों में कौन–कौन–सी विशेषताएं होनी चाहिए। हल के बाद दूसरा कृषि उपकरण कुदाल था। बैलगाड़ियों का उपयोग भी कृषि में किया जाता था। गुप्तकालीन कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि

प्रक्रियाएँ जैसे खेत जोतना, बोना सिंचना, काटना आदि की जाती थी। जुताई (कर्ष) का प्रारम्भ उपर्युक्त काल एवं ऋतु से होता था। इसके लिए स्मृतियों में शरद एवं बसन्त ऋतु माना है। वर्षाकाल को कृषकों के लिए वरदान माना गया है। भूमि को कई बार जोतना अच्छा समझा जाता था। उसके अलग–अलग नाम दिये गये थे। बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि जोती हुई या बोई हुई भूमि को दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग का अधिकारी है। इसके साथ ही सामूहिक खेती करने के उल्लेख भी मिलते है। बुआई को वाप कहा जाता था। बुआई का समय वर्षाकाल उत्तम माना है। स्मृति साहित्य में कृषकों के बुआई करते समय कुछ महत्वपूर्ण बात लिखी मिलती है। जिनमें बुआई, समय, बीज की मात्रा, नम और उपजाऊ भूमि आदि का वर्णन है। कुछ फसलों को बोने के बजाय रोपा भी जाता था। कृषक उपज को बढ़ाने के लिए पूजा–पाठ और यज्ञ आदि भी करते थे। शरद ऋतु में धान की फसल पकने पर उसकी कटाई की जाती थी। कटाई के पश्चात फसलों को एक खुली जगह पर एकत्रित किया जाता था इसके बाद इसमें से भूसा व अनाज दोनों को अलग–अलग किया जाता था। इस प्रक्रिया को मणनी अर्थात् गाहन कहा जाता। भूसा व अनाज अलग करने को निष्पाव नाम दिया गया था। कटी फसलों को बैलगाड़ियों के द्वारा एकत्रित किया जाता था। मणनी के अतिरिक्त धान्य राशी को लूप पर फटककर भी निप्पाव कर लिया जाता था। वायु के माध्यम से अनाज अलग किया जाने के उल्लेख मिलते हैं। खेती कार्य के समाप्त कोने पर कुछ धार्मिक अनुष्ठान भी किये जाते थे। बाद में अनाज को मापकर कोष्ठागारों में भर दिया जाता था। गुप्तकाल में जिस तरह से भूमि को कई प्रकार में बाँटा गया था। इसके आधार पर सिंचाई के दोनों साधन प्रयोग में लाये जाते थे प्राकृक्तिक और कृत्रिम। प्राकृतिक सिंचाई के प्रमुख स्रोत वर्षा, नदी, झील, व झरने थे। जबकि कृत्रिम सिंचाई नहर तालाब, कूप और जलाशय से सम्पन्न की जाती थी। कालिदास की रचनाओं में सिंचाई के संबंध में कई उल्लेख मिलते हैं। कृषि सिंचाई के माध्यम से ही अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न करती है। कालिदास ने कई नदियों का भी वर्णन किया है। जैसे– सिन्धु, गंगा, यमुना, मंदाकनी, क्षिप्रा और ब्रहापुत्र आदि। नदियों के अतिरिक्त प्राकृतिक सिंचाई के साधनों के रूप में झीलों तथा झरनों का वर्णन है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में भी सुदर्शन झील का उल्लेख है। कृत्रिम साधनों का भी उपयोग होता था। अमरकोष में पानी खींचने वाले एक यन्त्र को घटी यन्त्र बाणभट्ट ने भी हर्षचरित्र में थोड़ा बहुत वर्णन सिंचाई के संबंध में मिलता है। कूपों के अतिरिक्त तालाब भी सिंचाई के कृत्रिम साधन थे।

चीनी यात्री ह्वेवन सांग ने भी इसका अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। इसके अलावा नहरों से भी भूमि सिंचित की जाती थी। अमरकोष में इन्हें कर्फ्यू कहा गया है। नहरों से सिंचाई का एक महत्व भी था, ये नदियों के जल को नियंत्रित करके बाढ़ आदि को कम करके फसलों को नष्ट होने से बचाती है इसलिए इन्हें जल निर्गम कहा गया है। गुप्तकाल में मौर्यकाल की तुलना में सिंचाई के पर्याप्त प्रबंधों का अभाव भी प्रतीत गुप्तकाल में प्रशासनिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए राजस्व की क्या व्यवस्था थी यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी इस संबंध में समुद्रगुप्त के शासन काल के नौवें वर्ष का गया दानपत्र तथा पाँचवें वर्ष का नालन्दा दानपत्र उल्लेखनीय है। इस तरह भाग के रूप में एक साधारण कर का वर्णन है। जिसे संभवतः उपज का 1/4 से लेकर 1/6 तक होता था। इसे ही भाग कहा जाता था और मुख्यतः अनाज के रूप में लिया जाता था। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार जो सरकारी भूमि पर खेती करते है। केवल उन्हीं को उससे होने वाली प्राप्ति का एक अंश देना पड़ता था। जिसका आशय यह है कि राजस्व मुख्यतः राजकीय भूमि के लगान से ही प्राप्त होता था।

नारद स्मृति में उल्लेख है कि कृषक राज्य को उपज का 1/6 भाग भूमि कर के रूप में देते थे। गुप्तकालीन अभिलेखों में भी भाग और भोग का संयुक्त रूप से उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में कर के कई प्रकारों में सिर्फ तीन के ही नामों का उल्लेख है। उदंग और उपरिकर भी अन्य कर थे। इनका वर्णन गुप्तकाल में ही पहली बार हुआ था। उद्रंग और उपरिकर भी अन्य कर थे। इनका वर्णन गुप्तकाल में ही पहली बार हुआ था। उपरोक्त गुप्तकालीन कृषि अवस्था के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से तत्कालीन स्थिति को आंका जा सकता है। भूमि के प्रकार के संबंध भूमि की विशेषताओं के आधार पर अलग विभाजित किया गया था। भूस्वामित्व के संबंध में राज्य की भूमि पर स्पष्ट रूप से राजा और व्यक्ति सामान्यतः दोनों का अधिकार माना जा सकता है। कृषि एवं तकनीक में मौर्य से ही प्रचलित कृषि प्रणाली को ही आधार बनाया गया था।

रामानुजाचार्य की भक्ति धारा और दर्शन

चंद्रकांत रांगणेकर

रामानुजाचार्य वेदान्त दर्शन परम्परा में विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक माने जाते हैं। उपनिषद्, भगवदगीता एवं ब्रह्मसूत्र के श्री शंकराचार्य की अद्वैतपरक व्याख्या के प्रतिपाद के रूप में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया है। वैष्णव मत की

पुनः प्रतिष्ठा करने वालों में रामानुज या रामानुजाचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म 1017 ई. में चेन्नई के समीप पेरुबुदूर गाँव में हुआ था। श्रीरामानुजाचार्य के पिता का नाम केशव भट्ट था। इन्होंने कांची में यादव प्रकाश नामक गुरु से वेदाध्ययन किया। रामानुजाचार्य दर्शन का आधार वेदान्त के अलावा सातवीं से दसवीं शताब्दी के रहस्यवादी एवं भक्तिमार्गी आलवार सन्तों के भक्ति–दर्शन तथा दक्षिण के पंचरात्र परम्परा थी।

'अलावार' एक विशिष्शशर्षक तमिल शब्द है। दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में उसका प्रयोग साधनात्यक है। यत्पत्ति में लीन ज्ञान–गंगा में गोते लगाने वाले मन्त अया गवच्चिनान में निरन्तर लीन रहने वाले ज्ञानी भक्तों को 'आलवार' कहा गया है। वैशान सायदान के वोरान ईस्फूर्ति और प्रणवान बनाने में इन आलवारों के तमिल गीत बड़े ओजस्वी एवं प्रेरणादायक सिद्ध हुए है। इन वैष्णव कवि तथा आलवार सन्नों ने अपने गीतों में सुमधुर भक्तिरसपूर्ण तमिल गीतकाव्यों को पवित्र भक्ति गंगा को प्रवाहित कर इनमें चेतना, मानवीय या सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना को भर दिया है। इन सन्तों की धार्मिक काव्य साधना वैष्णव उपासना से विशेष प्रभावित है। उन पर वैश्यको पक्ष परिलक्षित होती है। इन आलवकर सन्तों ने उपासना के लिए वैकुण्ड निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला–विस्तार करने वाले उनके अवतार 'राम' का आश्रय लिया है। रामचरित में समुज्वल सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा से तमिल भाषा में प्रणीत पीत काव्यों में बुयानुकूल स्वरूप देने की अपूर्व सामथ्यं है। इच आवार सनों का काव्यत्य जितना सौम्य, उदार और मधुर है, उतना ही उनको यह गोत काल्यो भक्ति को चेतना, साधना को स्वस्थ भावना के सौरभ से सुषावित है। उनके साथ भक्तिकाव्यों में कोणता या सामुदायिकता को में नहीं, अपितु साधक पत्रिका व्यापक विचार और दर्शन का सस्पर्श है। परस्परानुसार प्रमुख एवं वयात आला तो को बारह बतलाई गई है। इन रवार सन्तों से जाति, लिंग, कर्ण और वर्ग–जैसे संकीर्ण विचारों के लिये कोई जगह नहीं है। श्री रामानुजम का जीवन काल लगभग 120 वर्ष लंबा था। रामानुजम ने लगभग नौ पुस्तकें लिखी हैं। उन्हें नवरत्न कहा जाता है। वे आचार्य आलवन्दार यामुनाचार्य के प्रधान शिष्य थे। गुरु की इच्छानुसार रामानुज ने उनसे तीन काम करने का संकल्प लिया था। पहला– ब्रह्मसूत्र, दूसरा– विष्णु सहस्रनाम और तीसरा– दिव्य प्रबंधनम की टीका लिखना। रामानुजाचार्य के दर्शन में सत्ता या परमसत् के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गये हैं– ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात् आत्म तत्व और अचित् अर्थात् प्रकृति तत्व। वस्तुतः ये चित् अर्थात् आत्म तत्व तथा अचित् अर्थात् प्रकृति तत्व ब्रह्म या ईश्वर से पृथक नहीं है बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म के ही दो स्वरूप हैं एवं ब्रह्म या ईश्वर पर ही आधारित हैं। वस्तुतः यही रामनुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है। जैसे शरीर एवं आत्मा पृथक नहीं हैं तथा आत्म के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शरीर कार्य करता है उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर से पृथक चित्त एवं अचित्त तत्व का कोई अस्तित्व नहीं हैं। वे ब्रह्म या ईश्वर का शरीर हैं तथा ब्रह्म या ईश्वर उनकी आत्मा सदृश्य हैं। रामानुज के द्वारा चलाये गये सम्प्रदाय का नाम भी श्रीसम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय

की आद्यप्रवर्ति का श्रीमहालक्ष्मी जी मानी जाती हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने देश भर में भ्रमण करके लाखों नर–नारियों को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त किया। इनके चौहत्तर शिष्य थे। इन्होंने महात्मा पिल्ललोकाचार्य को अपना उत्तराधिकारी बनाकर एक सौ बीस वर्ष की अवस्था में इस संसार से प्रयाण किया। इनके सिद्धान्त के अनुसार भगवान विष्णु ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीर में साक्षी रूप से विद्यमान हैं। भगवान नारायण ही सत हैं, उनकी शक्ति महा लक्ष्मी चित हैं और यह जगत उनके आनन्द का विलास है। भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण इस जगत के माता–पिता हैं और सभी जीव उनकी संतान हैं।

रामानुज ने श्रीरंगम् नामक स्थान पर रहकर भी शास्त्रों का अध्ययन किया और वहाँ पर अपने जीवन के परवर्ती वर्ष बिताकर ग्रंथों की रचना की। श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति मार्ग का प्रचार करने के लिये सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। इन्होंने भक्तिमार्ग के समर्थ में गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। वेदान्त सूत्रों पर इनका भाष्य श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज–विरचित सर्वप्रथम ग्रंथ वेदान्त संग्रह है, जिसमें उन्होंने उन श्रंति वाक्यों की रचना की है, जो अद्वैतवादियों के अनुसार अभेद की स्थापना करते हैं। इसके बाद उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ 'श्रीभाष्य' की रचना की जो ब्रह्मसूत्र पर भाष्य है। तत्पश्चात् उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्त द्वीप' और 'वेदान्त सार' नामक दो छोटी टीकाएँ लिखी, जो 'श्रीभाष्य' पर आधारित हैं। अन्त में उन्होंने 'गीता भाष्य' की रचना की। उन्होंने प्रस्थानत्रयी में से उपनिषदों पर कोई स्वतंत्र टीकाएँ नहीं लिखी, परन्तु प्रमुख औपनिवेशिक वाक्यों की वेदार्थ संग्रह में व्याख्या की है।

इन ग्रन्थों के अलावा दो अन्य ग्रन्थ– 'गद्यत्रयम' और 'नित्य ग्रन्थ' रामानुज के नाम से सम्बद्ध हैं, परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। वे दार्शनिक न होकर भक्तिपरक रचनाएँ हैं। रामानुज की समस्त रचनाओं में उनके पांडित्य का उत्कृष्ट प्रदर्शन मिलता है। ये उनके प्रौढ़ मस्तिष्क की उपज तथा सूक्ष्म चिन्तन, गहन अध्ययन एवं प्रगाढ़ अनुभव के प्रमाण हैं। इनमें मुख्यतः उन्होंने पहले अद्वैतवाद के इन आधारभूत सिद्धांतों का खंडन किया कि ब्रह्म निर्विशेष चिन्मात्र है, एक्मेव सत्ता है और नानात्वमय जगत् मिथ्या है। इसके उपरान्त उन्होंने बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपने दार्शनिक पक्ष का निरूपण किया है और साथ ही यह भी बताया है कि किस तरह वह श्रुति–सम्मत है।

रामानुज चरम तत्व को अनन्त गुण सम्पन्न परम पुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। शंकर ने ब्रह्म या चरम तत्व के निर्गुण परक और सगुण परक, द्विविध वर्णन कर एक को पारमार्थिक दृष्टि और दूसरे को व्यावहारिक दृष्टि कहकर दोनों में वैचारिक भेद किया है। सगुण ब्रह्म की सत्ता औपाधिक तथा जागतिक प्रपंच तक ही सीमित मानी गई है। रामानुज इस वर्गीकरण के पूर्ण विरोधी हैं। उनके अनुसार ब्रह्म के सम्बन्ध में एक ही दृष्टिकोण हो सकता है और वह है सगुणता का। ब्रह्म में गुणों का बाहुल्य उनके स्वरूप के नानात्व का बोध नहीं कराता, क्योंकि पृथक होते हुए भी समस्त गुण एक ही ब्रह्म में अस्तित्व रखते हैं और उसकी उद्वयता को हानि नहीं पहुँचाते। जगत् की तात्विक प्रस्थिति के बारे में वेदान्त दर्शन में मायावाद एवं लीलावाद की दो पृथक् एवं पूर्णतः विरोधी परम्पराएँ रही हैं। इन दोनों परम्पराओं में मौलिक भेद सत्ता के प्रति दृष्टिकोण में है। दोनों यह मानते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया का मूल सृजन की चाह है और उस चाह को चरमतत्व (ब्रह्म) पर आरोपित एवं मिथ्या माना गया है, जबकि लीलावाद में उसे ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति एवं वास्तविक माना गया है। दोनों के अनुसार जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, पर एक में वह आभास मात्र है, जबकि दूसरे में वास्तविक।

रामानुज मायावाद का प्रबल प्रतिवाद कर लीलावाद का समर्थन करते हुए जगत् के प्रति वास्तवलक्षी दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे जगत् को उतना ही वास्तविक मानते हैं, जितना की ब्रह्म है। ब्रह्म जगत की सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण है। किन्तु इस प्रक्रिया में ब्रह्म निर्विकार रहता है। क्रिया शक्ति उसकी सत्ता या स्वरूप में बाधा नहीं पहुँचाती। प्रलय की अवस्था में चित्त और अचित्त अव्यक्त रूप में ब्रह्म में रहते हैं। ब्रह्म को इस अवस्था में 'कारण–ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म में चित्त एवं अचित्त व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं। इस अवस्था को कार्य ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म अपनी दोनों विशिष्ट अवस्थाओं में अद्वैत रूप है। केवल भेद यह है कि पहले में अद्वैत एकविध है तो दूसरे में अनेकविध हो जाता है। दोनों अवस्थाएँ समान रूप से सत्य हैं। अभेद–श्रुतियाँ कारण–ब्रह्म की बोधक हैं और और भेद–श्रुतियाँ कार्य–ब्रह्म की।

अद्वैत वेदांत में सत्ता के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म एकमेव सत्ता है तो वैविध्यमय जगत की, जिसका हम अनुभव करते हैं, कैसे व्याख्या की जाये। इसका उत्तर माया के सिद्धांत को प्रस्तुत कर अवश्य दिया गया, परन्तु माया अपने आप में अनिर्वचनीय है, जो वास्तविक समाधान की अपेक्षा वैचारिक रहस्य या पहेली सी लगती है। यह एकत्व और नानात्व के विरोध को दूर करने के लिए प्रस्तुत की गई है। परन्तु स्वयं इसमें सत् और असत् के निषेध का आत्मविरोध है।

रामानुज सत्ता के प्रति सजीव दृष्टिकोण रखते हैं। अतः उनके लिए एकत्व और नानात्व के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। वे इन दोनों को विभक्त न मानकर मात्र पृथक् या एक ही तत्व के दो पक्ष मानते हैं। उनके मतानुसार एकमेव सत्ता अपने सविशेष स्वरूप में जगत के नाना चराचर तत्वों का अंग के रूप में समावेश कर लेती हैं। तार्किक दृष्टि से यह आवश्यक भी है कि यदि ब्रह्म में अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लिया जाये, चाहे वह अभिव्यक्ति आरोपित हो या वास्तविक, तो उन नाना रूपों को भी ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ेगा, जिनमें ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। अद्वैतवादी इस अभिव्यक्त नानात्व को मिथ्या घोषित करते हैं और मायावाद का प्रवर्तन करते हैं, जो रामानुज को पूर्णतरू श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के साक्ष्य के विपरीत लगता है।

भारतीय वेशभूषा की विकास गाथा

गार्गी रत्नपारखी

भारत में वस्त्रों की कहानी दुनिया में सबसे पहले हमें सिंधु घाटी से मिली प्रागैतिहासिक सभ्यता से मिलती है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, उरकाटोडा और कालीबंगन में पत्थर, मिट्टी, धातु, टेराकोटा या लकड़ी के धुरी के शुरुआती नमूने पाये गये हैं। माना जाता है कि हड़प्पावासियों की व्यावसायिक फसलों में कपास का प्रमुख स्थान था। पुरातात्विक साक्ष्यों से हमें हड़प्पा सभ्यता के दौरान पहने जाने वाले परिधानों की एक झलक मिलती है। मोहनजोदड़ो में पुजारी राजा की मूर्ति से, प्रतीत होता है कि वस्त्र,कढ़ाई के साथ या बिना, बाएँ कँधे पर और दाहिने हाथ के नीचे पहना जाता था। सिलाई की कला प्राचीन भारत में भी प्रचलित थी। वैदिक काल से हमें उन सामग्रियों और पहनावे के तौर–तरीकों के संदर्भ मिलते हैं, जो प्राचीन भारत के कपड़ा इतिहास के विकास की ओर इशारा करते हैं। ऋग्वेद में एक बुनकर को वासोवय कहा गया है। पुरुष बुनकर को वाया कहा जाता था जबकि स्त्री बुनकर को वायत्री कहा जाता था। ऋग्वेद मुख्य रूप से दो वस्त्रों, वासा या निचले वस्त्र और अधिवास या ऊपरी वस्त्र को संदर्भित करता है। कढ़ाई के सन्दर्भ वैदिक ग्रंथों में पेसा या कशीदाकारी परिधान के रूप में भी सामने आते हैं, जिन्हें देखकर प्रतीत होता है की इन्हें महिला नर्तकियों द्वारा इस्तेमाल किया गया। ऋग्वेद में कपड़ों के रूपकों का उपयोग बहुत बार होता है। इंद्र को समर्पित एक भजन में, उनकी स्तुति, भजनों की तुलना में सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाए गए वस्त्रों या विशालेवभद्र सुकृता से की जाती है। उरना सूत्र (ऊनी धागे) का उल्लेख बाद की संहिताओं में लगातार मिलता है। मुद्रित कपड़े का सबसे पहला संदर्भ वैदिक युग से आपस्तंब श्रौत सूत्र में 'चित्रंत' शब्द में मिलता है। यज्ञोपवीत, ब्राह्मणों द्वारा पहना जाने वाला पवित्र धागा, सूती धागे से बनाया गया था। महाकाव्य महाभारत में हिमालयी क्षेत्रों के सामंती राजकुमारों द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए उपहारों में रेशमी कपड़ों का उल्लेख है। बुनाई के संदर्भ ऋग्वेद से बहुत आम हैं। महाभारत में मुद्रित कपड़े का भी उल्लेख है। मुद्रित कपड़ों के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला सामान्य शब्द चित्र वस्त्र है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में भी वस्त्रों की छपाई होती थी। महाभारत में, 'मणि चिरा' का उल्लेख है, जो संभवतः एक दक्षिण भारतीय कपड़ा है जिसमें मोतियों को फ्रिंज में बुना जाता है। वाल्मीकि की रामायण के अनुसार, सीता की पोशाक में ऊनी कपड़े, फर, कीमती पत्थर, विविध रंगों के महीन रेशमी वस्त्र, विभिन्न प्रकार की शाही सजावटी और भव्य गाड़ी शामिल थी। रामायण और महाभारत महाकाव्यों में कपड़ों का बार–बार उल्लेख किया गया

है। प्राचीन भारत में लोग आमतौर पर सूती कपड़े पहनते थे। पाषाण युग में भी भारत विश्व में एकमात्र ऐसा स्थान था, जहाँ लोग कपास उगाते थे। प्राचीन भारतीय पुरुष आमतौर पर धोती पहनते थे। यह एक प्रकार का कपड़ा होता था जो उनकी कमर में लपेटा जाता था और पीछे की तरफ बंधा होता था। कुछ पुरूष भी सिर पर पगड़ी बाँधते थे। पुरुष हजारों वर्षों तक इस तरह के कपड़े पहनते रहे। महिलाएँ आमतौर पर कमर से घुटनों तक वस्त्र पहनती थी, और संभवतः धूप से बचने के लिए सिर पर एक कपड़ा लपेटती थी। श्रंगार के तौर पर महिलाओं ने हार और कंगन भी पहने, जो शुरआत में पत्थर और खोल के मोतियों से बने होते थे, और बाद में कांस्य और चाँदी और सोने के बनने लगे। कातना और बुनना आर्य–सभ्यता के मुख्य अंग थे। ऊनी वस्त्र को आविक कहते थे। सिथ की घाटी में अच्छे ऊनी कपड़े मिलते थे और राबी के प्रवेश के बुले और रंगीन ऊनी कपड़े प्रसिद्ध थे। कंबल और शानुल्य ऊनी वस्त्र थे। शामुल्य समूर हो सकता है। वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे वस्त्रों के नाम आये है जिनकी ठीक ठीक पहचान नहीं हो सकती। बरासी शायद बरस नाम के वृक्ष की छाल के रेशे से बनता था। दूर्श शायद किसी किस्म का ऊनी वस्त्र था, क्षौम अलसी की छाल के रेशे से बना वस्त्र होता था जो कभी–कभी रंगीन भी होता था। पांड्वाविक

ऊन का बना सफेद वस्त्र था। कपास का सब से पहला उल्लेख आश्वालायन श्रौतसूत्र में आया है। कपड़ा बुनने वाली स्त्रियों के लिए वायित्रि और सिरी शब्दों का व्यवहार हुआ है। वैविक साहित्य में बुनाई के बहुत से शब्द यथा ओतु (बाना), तंतु (सूत), तंत्र (ताना), बेमन (करघा), प्राचीनतान (आगे खिचा ताना), वाय (बुनकर), मयूख (ढरकी), आये हैं।

वैदिक साहित्य में पहरावे के लिए साधारणतः वासस् और वसन शब्दों का प्रयोग हुआ है। सुवसन और सुवाससु से अच्छी तरह से कपड़े पहनने का बोध होता है। सुरभि के अर्थ ठीक तरह से बदन पर बैठने वाला कपड़ा है। अच्छे कपड़े पहनने वालों का समाज में आवर होता था, रंग–बिरंगे कपड़े भी पहने जाते में। कपड़ों पर कभी–कभी कारचोवी का काम होता था। कपड़ों में झालर और अलंकृत किनारे भी होते थे। घुले और कोरे कपड़े पहने जाते थे। स्त्रियाँ रंगीन और सुनहरे काम वाले कपड़े पहनतीं थीं।

कसीदे के काम को पेशस् और कसीदे काढ़ने बालियों को पेशकारी कहते थे। कसीदे का काम वस्त्रों के ऊपर नीचे और सध्य में किया जाता था। कुछ अलंकार बुने जाते थे और कुछ काढ़े। खूब काम कारने से सुईकार की पटुता बढ़ती थी। बौद्ध साहित्य में तो ऐसे अनेक नंगे साधुओं के संप्रदायों का उल्लेख आया है जिनमें मुख्य जैन थे। लगता है उनका नग्नत्व उस प्राचीन समाज के नग्नत्व की ओर इशारा करता है जब शरीर ढकने की भावना का उदय नहीं हुआ था। धीरे–धीरे जब सभ्यता ने आगे कदम बढ़ाया, तब समाज तो वस्त्रों का आदी हो गया, पर उसके धार्मिक गुरु नग्नत्व की प्राचीनतम प्रथा अपनाये रहे, जो एक समय सर्वसाधारण का नियम था।

वैदिक और बाद के साहित्यों में आये चड़े, वल्कल और तूणों के वस्त्र भी उसी आदि सभ्यता की ओर संकेत करते है। बात यह है कि पूरा समाज एक साथ ही उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होता, उसका कुछ भाग हमेशा पीछे रह जाता है और प्राचीनता को निभाये चलता है। इन्हीं पिछड़े लोगों के विश्वासों और आदतों से हम बहुत प्राचीन काल की सभ्यता का चित्र खींच सकते है।

तकुओं की फिरकियों के मिलने से पता चलता है कि लोग सूत कातते थे। एक वस्त्र के टुकड़े के वैज्ञानिक अध्ययन से पता चलता है कि लोग कपास से अवगत थे। इससे इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि बामुली भाषा का सिंधु और यूनानी भाषा का सिकोन शब्द सिंधु देश के बने कपास के कपड़े के लिए ही थे। इस तरह कपास से कपड़े बताने का श्रेय सब से पहले इसी देश को मिलता है। महाजानपद युग, शैशु नागों और नंदों (642–320 ई.पू.) में भारतीय सभ्यता और आगे बढ़ी। इस युग के इतिहास की सामग्री हमें जैन सूत्रों, बौद्ध पिटकों और ब्राह्मण सूत्र ग्रंथों में मिलती है। इस युग की आर्य सभ्यता ग्रामों से निकल कर नगरों में पहुँच चुकी थी और देश का कला–कौशल काफी आगे बढ़ चुका था। कपास, क्षौम, रेशम और ऊनी कपड़ों का काफी चलन था। जातकों में सुईकार (पेसकार), बेंत बिनने वालों (नेलकार) और बुनकर (तंतुवाय) कहा है। इस युग में कपास की खूब खेती होती थी और बनारस की कपास मशहूर थी। रूई धुनने, कातने और सूत की गड्डियाँ बनाने का भी वर्णन है। रेशमी कपड़े भी पहने जाते थे। वाहीक और चीन से भी रेशमी कपड़े आते थे। क्षौम के बने कपड़े बहुत महीन और सुन्दर होते थे। यह कपड़ा अलसी की छाल के रेशों से बनता था। उड्डीयान और गंधार के रक्त कंबल बहुत मशहूर थे। शिवि देश के घुस्सों की तो काफी कीमत होती थी। पंजाब और गंधार ऊनी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। पंजाब, उत्तरी सीमा प्रान्त, पूर्वी अफगानिस्तान से खालें कीमती शाल, समूर इत्यादि इस देश में आते थे। इस युग में पश्मीनों का बड़ा नाम था। आधुनिक पठानकोट में कोटुंबर नाम के बहुत ही अच्छे ऊनी वस्त्र बनते थे। किखाब को हिरण्य वस्त्र कहते थे। मौर्ययुग में भारतीय संस्कृति ने खूब उन्नति की।

इस युग की वेश भूषा के इतिहास के लिए हमें साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि इस युग की मिली मनुष्य मूर्तियां संख्या में बहुत ही कम है। इस युग की वेश–भूषा और कपड़ों के इतिहास के लिए महाभारत सभापर्व और कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में काफी सामग्री है। इन ग्रंथों से यह भी पता चलता है कि भारत और मध्य एशिया से काफी व्यापारिक संबंध था और अफगानिस्तान, बलख और ताजिकिस्तान से यहाँ रेशमी और ऊनी कपड़े, खालें तथा समूर आते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में चमड़ों और समूरों की विशद व्याख्या है। कान्तानावक एक नीले रंग का चमड़ा होता था और प्रयक सफेद और नीले रंग का बंदकी और धारीदार चमड़ा। द्वादश–ग्राम से बिसी, जो बालद्वार और चित्तीदार होता था तथा महाबिसी जो खुरखुरा और सफेद होत्ता था, आते थे । हिमालय प्रदेश के आरोह नामक स्थान से गुलदार श्यामिका, भूरे और फाख्तई रंग की कालिका, काले भूरे और लाल रंग के कदली चर्म, गोल चित्तीदार चद्रोत्तरी और शाकुला नाम के चमड़े और समूर आते थे।

बलख से काले समूर, चीन देश के समूर और गेहुएँ रंग के सामूली आते थे। ऊब बिलाव के चमड़ों में सातीना काले रंग का होता था, नलतूला हरे रंगका। वृत्रपुच्छा का रंग भूरा होता था और इसमें ऊद बिलाव की पूंछ भी होती थी। चिकने, मुलायम और गज्झिन रोम वाले समूर अच्छे माने जाते थे। गोह, चोते, सूंस, सिंह, व्याघ्र, हाथी, भैंसे, सुरागाय और गयाल के चमड़े भी काम में आते थे। भेंड़ के ऊन से बने आत्रिक नाम के शाल, सफेद, शुद्ध रक्त और पक्ष रक्त रंगों के होते थे। सुईक्रारी और बुनाई द्वारा शाल में अलंकार योजना को खचित कहते थे, करघे पर ही जिस शाल में अलंकार बुने गये हों उसे वानचित्र और अनेक टुकड़ों को जोड़ कर बनाये गये शाल को खंड संघात्य कहने थे। किनारे पर जालीदार शाल को तंतुविच्छिन्न कहते थे। आज दिन भी कश्मीर में उपरोक्त विधियों से हो शाल और जामेवार बुने जाते है। कौटिल्य ने दस तरह के ऊनी कपड़ों का वर्णन दिया है जिनमें अधिकतर बिछाने के काम में आते थे।

महर्षि अगस्त्य की दक्षिण भारत की यात्रा

सत्यजीत वर्मा

महर्षि अगस्त्य की दक्षिण भारत की यात्रा भारतीय पौराणिक कथाओं में एक महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक घटना है। यह यात्रा न केवल भौगोलिक रूप से महत्वपूर्ण थी, बल्कि इसने दक्षिण भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पहचान को भी आकार दिया। महर्षि अगस्त्य की यात्रा की शुरुआत एक पौराणिक आदेश से हुई थी। उन्हें दक्षिण भारत की ओर जाने का आदेश दिया गया था, जिससे वहाँ के भौगोलिक और सांस्कृतिक संतुलन को स्थापित किया जा सके। कथाओं के अनुसार, महर्षि अगस्त्य के दक्षिण भारत जाने के समय, विंध्य पर्वत उनके आगमन पर उनके सम्मान में अपनी ऊँचाई कम कर देता है। महर्षि अगस्त्य समुद्रस्थ राक्षसों के अत्याचार से देवताओं को मुक्ति दिलाने हेतु सारा समुद्र पी गए थे। अगस्त्य के बारे में कहा जाता है कि एक बार इन्होंने अपनी मंत्र शक्ति से समुद्र का समूचा जल पी लिया था। महर्षि अगस्त्य की गणना सप्तर्षियों में की जाती है। ये भगवान शंकर से सबसे श्रेष्ठ सात शिष्यों में से एक थे। महर्षि अगस्त्य राजा दशरथ के राजगुरु थे। अगस्त्य ने विंध्य से वापस आने पर उसे फिर से उठने का आदेश दिया, लेकिन वे कभी वापस नहीं आए, और इस प्रकार विंध्य पर्वत ने अपनी ऊँचाई कम ही रखी। दक्षिण भारत पहुँचकर, महर्षि अगस्त्य ने वहाँ के लोगों को वैदिक ज्ञान, योग, और आध्यात्मिक प्रथाओं की शिक्षा दी। उन्होंने दक्षिण भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्हें तमिल भाषा और साहित्य के विकास में भी एक प्रमुख योगदानकर्ता माना जाता है। उन्होंने तमिल व्याकरण और साहित्य को संवारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। महर्षि अगस्त्य ने दक्षिण भारत में वैदिक परंपराओं, योग और ध्यान की तकनीकों का प्रसार किया, जिससे वहाँ की आध्यात्मिक और धार्मिक पहचान मजबूत हुई।

उन्हें तमिल साहित्य और सिद्ध परंपरा में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में सम्मानित किया जाता है। उनका योगदान चिकित्सा, कीमिया, योग और आध्यात्मिकता सहित विभिन्न क्षेत्रों में फैला हुआ है, जो उन्हें ज्ञान और बुद्धि का आदर्श बनाता है। अक्सर तमिल साहित्य के जनक माने जाने वाले अगथियार की विरासत उनके असंख्य कार्यों और शिक्षाओं के माध्यम से अमर है जो पीढ़ियों को प्रेरित और मार्गदर्शन करना जारी रखती है। अगथियार की उत्पत्ति मिथक और किंवदंती में डूबी हुई है। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार, उनका जन्म देवताओं (देवताओं) द्वारा किए गए यज्ञ (बलिदान अनुष्ठान) के दौरान एक पवित्र बर्तन (कुंभ) से हुआ था। इस चमत्कारी जन्म ने उन्हें 'कुंभज' या 'कुंभमुनि' नाम दिया। उन्हें सात महान् ऋषियों या सप्तर्षियों में से एक माना जाता है और अक्सर उन्हें गहन आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि वाले छोटे कद के तपस्वी व्यक्ति के रूप में दर्शाया जाता है। अगस्त्य के माध्यम से योग विज्ञान एक खास रूप में दक्षिण भारत में आया। कई तरह से अगस्त्य मुनि दक्षिण भारतीय योगविद्या/रहस्यवाद के जनक हैं। दक्षिणी भारत के सभी सिद्ध अगस्त्य मुनि की परंपरा के ही हैं और दक्षिणी भारत की योगविद्या का एक अलग ही रंग ढंग है और ये अगस्त्य के कारण है।

सबसे पुरानी युद्ध कला कलारीपयट्टू के रचनाकार। दुनिया में कलारीपयट्टू शायद सबसे पुरानी युद्ध कला है। शुरुआत में, मूल रूप से, ये अगस्त्य मुनि ने ही सिखायी। अगस्त्य के प्रवास की कहानी यह हैरू हिमालय में स्थित कैलास पर्वत पर विराजमान शिव ने एक बार वेद और तंत्र पर प्रवचन दिया था। इसे सुनने के लिए सात ऋषि दौड़े चले आए, जिससे धरती उत्तर की ओर झुक गई। दुनिया को संतुलित करने के लिए शिव ने अगस्त्य को दक्षिण की ओर जाने को कहा। जैसे ही अगस्त्य दक्षिण की ओर गए, शिव की पत्नी शक्ति ने उन्हें उत्तर से दक्षिण की ओर पहाड़ और नदियाँ ले जाने को कहा। उनके बेटे कार्तिकेय ने शिव से युद्ध किया और दक्षिण की ओर चले गए। उन्हें घर की याद आ रही थी, इसलिए शक्ति उन्हें उत्तरी परिदृश्य में भेजना चाहती थीं। अगस्त्य को तमिल व्याकरण पर सबसे पहले ज्ञात कार्य ष्अगथियमष् की रचना का श्रेय दिया जाता है। इस स्मारकीय ग्रंथ ने तमिल भाषा की नींव रखी, इसके वाक्यविन्यास, ध्वन्यात्मकता और रूपात्मकता की स्थापना की। हालाँकि माना जाता है कि मूल 'अगथियम' लुप्त हो गया है, लेकिन इसका प्रभाव बाद के व्याकरणिक कार्यों और तमिल भाषा की संरचित सुंदरता में व्याप्त है। तमिल साहित्य में अगथियार का योगदान केवल व्याकरण तक ही सीमित नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने कई कविताएँ और गद्य भी लिखे हैं जो दार्शनिक, नैतिक और नैतिक विषयों पर आधारित हैं। उनके लेखन में मानव प्रकृति और ब्रह्मांड की गहरी समझ झलकती है, जिसमें अक्सर काव्यात्मक लालित्य और गहन ज्ञान का मिश्रण होता है। महर्षि अगस्त्य की यह यात्रा न केवल एक भौगोलिक यात्रा थी, बल्कि यह एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक यात्रा भी थी, जिसका गहरा प्रभाव दक्षिण भारतीय समाज और संस्कृति पर पड़ा। उनकी यात्रा और शिक्षाओं का प्रभाव आज भी दक्षिण भारत के कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। अगस्त्य का प्रभाव साहित्य और चिकित्सा से परे दक्षिण भारत के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक ताने–बाने तक फैला हुआ है। तमिल विरासत और आध्यात्मिकता में उनके योगदान का जश्न मनाने वाले तमिलनाडु भर में उन्हें समर्पित मंदिर और स्मारक पाए जा सकते हैं। त्यौहार और अनुष्ठान उनकी स्मृति का सम्मान करते हैं, जो उनके प्रति गहरी श्रद्धा को दर्शाते हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारत के वैष्णव, शैव अन्य धार्मिक मत

प्राचीनकाल में देव, नाग, किन्नर, असुर, गंधर्व, भल्ल, वराह, दानव, राक्षस, यक्ष, किरात, वानर, कूर्म, कमठ, कोल, यातुधान, पिशाच, बेताल, चारण आदि जातियाँ हुआ करती थीं। देव और असुरों के झगड़े के चलते धरती के अधिकतर मानव समूह दो भागों में बंट गए। पहले बृहस्पति और शुक्राचार्य की लड़ाई चली, फिर गुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र की लड़ाई चली। इन लड़ाइयों के चलते समाज दो भागों में बंटता गया।

हजारों वर्षों तक इनके झगड़े के चलते ही पहले सुर और असुर नाम की दो धाराओं का धर्म प्रकट हुआ, यही आगे चलकर यही वैष्णव और शैव में बदल गए। लेकिन इस बीच वे लोग भी थे, जो वेदों के एकेश्वरवाद को मानते थे और जो ब्रह्मा और उनके पुत्रों की ओर से थे। इसके अलावा अनीश्वरवादी भी थे। कालांतर में वैदिक और चर्वाकवादियों की धारा भी भिन्न–भिन्न नाम और रूप धारण करती रही। भगवान विष्णु और उनके अवतारों को मानने वाले वैष्णव और भगवान शिव तथा उनके अवतारों को मानने वालों को शैव कहते हैं। भारत में प्राचीन काल से ही आर्य सभ्यता के साथ ही ब्राह्मा, विष्णु और शिव से संबंधित संप्रदायों का प्रचलन रहा है। शैव में शाक्त, नाथ, दसनामी, नाग आदि उप संप्रदाय है। महाभारत में माहेश्वरों (शैव) के चार सम्प्रदाय बतलाए गए हैं– शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। शैवमत का मूलरूप ऋग्वेद में रुद्र की आराधना में हैं। बारह रुद्रों में प्रमुख रुद्र ही आगे चलकर शिव, शंकर, भोलेनाथ और महादेव कहलाए। इनकी पत्नी का नाम है पार्वती जिन्हें दुर्गा भी कहा जाता है। शिव का निवास कैलाश पर्वत पर माना गया है।

अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत के समय तक अध्यात्मतत्व के देवता नारायण, ऐतिहासिक पूज्य पुरुष वासुदेव और वैदिक देवता उरूगाय विष्णु एकाकार होकर भारत–युद्ध के कृष्ण में समन्वित होने लगे थे और नाना प्रकार से यह उद्योग होने लगा था कि कृष्ण ही एकमात्र द्वितीय वासुदेव, नारायण, हरि, भगवत और विष्णु के अवतार हैं। हरिवंश तथा अनेक पुराणों में कृष्ण के एकमात्र द्वितीय वासुदेव होने के, श्वृगाल वासुदेव और पोण्ड्र, वासुदेव सम्बन्धी आख्यान मिलते हैं। महाभारत और पुराणों में कृष्ण को सात्वतर्षभ कहा गया है, जिससे कृष्ण के भी वृष्णिवंशीय सात्वत होने की सूचना मिलती है। इस प्रकार सात्वतों के कुल–धर्म को महाभारत और पुराणों की सहायता से एक व्यापक लोकधर्म बनाने का सतत् उद्योग किया गया। कदाचित भागवत धर्म की यह परिणति चौथी–पाँचवीं शताब्दी में गुप्त वंश के राज्यकाल में हुई। गुप्त सम्राट अपने को

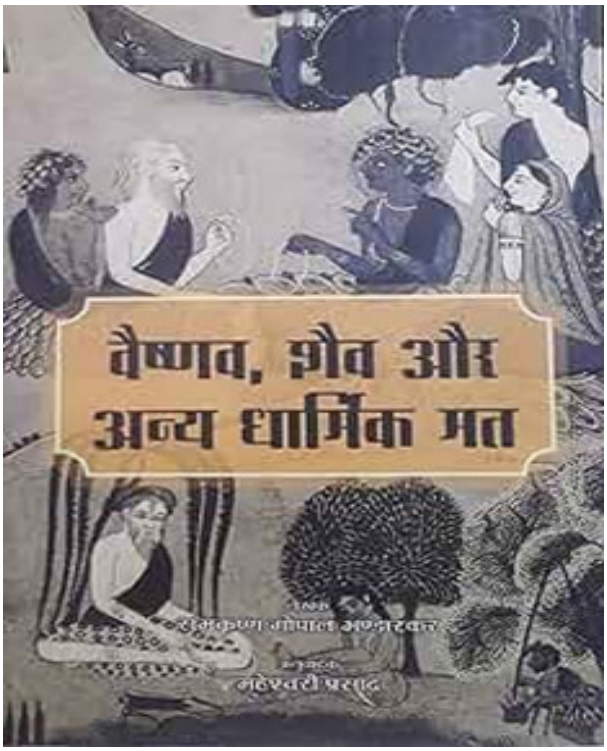

परम भागवत घोषित करने में गर्व का अनुभव करते थे। उन्होंने पौराणिक वैष्णव धर्म को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। फिर भी गुप्तवंश की उदार धार्मिक नीति के फलस्वरूप शैव और बौद्ध धर्म भी यथेष्ट उन्नति कर रहे थे। वैदिक ब्राह्मण धर्म का स्मार्त रूप, जिसमें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश– इन पाँच देवताओं की पूजा विहित थी, व्यापक प्रचार पा रहा था। वैष्णव धर्म के प्रचार से ही अहिंसा और अवतारवाद के सिद्धान्त का व्यापक रूप में प्रचलन हो गया था। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का यह ग्रन्थ 'वैष्णव शैव अन्य धार्मिक मत' भारत के इन प्राचीन संप्रदायों की बहुत ही सूक्ष्म रूप से पड़ताल करता है। हिन्दूधर्म न तो ईसाई और मोहम्मदीय धर्मों के समान पैगम्बरीय ही है और न बौद्ध धर्म के समान रहस्यवादी ही। इस रूप में हिन्दू धर्म विलक्षण है। यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ऐतिहासिक परिणति है। यह ऐतिहासिक विकास आवयविक है–एक वृक्ष के समान, जिसमें पूर्ववर्ती तत्व परवर्ती रूप में न्यस्त होकर विकसित होते जाते हैं। इतिहास की इस सनातन प्रक्रिया के कारण हिन्दू धर्म युगपत् रीति से संरक्षणशील और गतिशील है। इसमें प्राचीनता के साथ–साथ अर्वाचीनता अर्धनारीश्वर के समान एक–दूसरे से संमिश्र है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com